



अध्याय २

सांरक्ष्य योग

सञ्जय उवाच ।
तं तथा कृपयाविष्टमश्रूपूर्णाकुलेक्षणम् ।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ॥ २-१ ॥

संजय ने कहा - तब श्री कृष्ण ने अर्जुन से ये शब्द कहे, जब उसका हृदय करुणामय एवं उसकी आँखों में आंसु भरे हुए थे।

श्रीभगवानुवाच ।
कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥ २-२ ॥

भगवान् श्री कृष्ण ने कहा - अर्जुन, इस संकटपूर्ण घड़ी में तुम्हे इस भ्रांति ने कैसे जकड़ लिया है? एक आर्य के लिए यह उचित नहीं, और ना यह उसे स्वर्ग की ओर ले जाता है। बल्कि, यह अपयक्षा का कारण बन सकता है।

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थं नैतत्त्वय्युपपद्यते ।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप ॥ २-३ ॥

हे पार्थ, ऐसी नामदीर्घोड़ी। तुम्हे यह शोभा नहीं देती। हे परन्तप (शत्रुओं को दण्ड देनेवाला), उठो और इस प्रकार के दुर्बल हृदय के वश में मत आओ।

अर्जुन उवाच ।
कथं भीष्ममहंसङ्ख्ये द्रोणं च मधुसूदन ।
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजाविरिसूदन ॥ २-४ ॥

अर्जुन ने उत्तर में कहा - हे मधुसूदन, युद्ध में भीष्म और द्रोण जैसे बुजुर्गों पर मैं कैसे अपने बाणों की वर्षा कर सकता हूँ, जब वे मेरे सम्मान के पात्र हैं?

गुरुनहत्वा हि महानुभावान् श्रेयो भोक्तुं भक्ष्यमपीह लोके ।
हत्वार्थकामांस्तु गुरुनिहैव भुज्ञीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान् ॥ २-५ ॥

अपने सम्माननीय अग्रजों का वध करने से तो बेहतर है कि मैं इस संसार में भीख माँगकर अपना जीवन यापन करूँ। अन्यथा, जिस धन-संपत्ति का हम यहां उपभोग करेंगे वह उनकी लहू से लथ-पथ होगी।

श्रीमद्भगवद्गीता

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः।
यानेव हत्वा न जिजीविषामस्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्रः ॥ २-६ ॥

मैं नहीं जानता कि क्या हमारे लिए क्या श्रेष्ठ है - उनपर विजय प्राप्त करना, या उनसे पराजित हो जाना। यहां, हमारे समक्ष एकत्रित धृतराष्ट्र के पुत्रों का यदी हम वध करते हैं तो मुझमें जीवित रहने की कोई अभिलाषा नहीं रहेगी।

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसमूढचेताः ।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥ २-७ ॥

मेरी स्वाभाविक क्षत्रीयता कमजोर हो रही है और भ्रम के कारण मैं धर्म के मार्ग को पहचान नहीं पा रहा हूँ। कृपया यह बताएं कि मेरे लिए सबसे हितकारी कार्य क्या है। अब मैं स्वयं को आपके शिष्य के रूप में समर्पित करता हूँ। कृपया मुझे उपदेश प्रदान करें।

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम् ।
अवाप्य भूमावसपलमृद्धं राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ॥ २-८ ॥

यदि मैं एक अप्रतिम संपन्न सामराज्य और देवों जैसी शक्ति भी प्राप्त कर लूँ, फिर भी इन चीजों में मैं ऐसा कुछ नहीं देख रहा जो मेरे इन्द्रियों को क्षय कर रहे इस शोक को मिटा सके।

~ अनुवृत्ति ~

यहां, द्वितीय अध्याय से ही भगवद्गीता वस्तुतः प्रारंभ होती है। भगवद्गीता का यथाशब्द अर्थ है भगवान् का गीत' और भगवान् का अर्थ है परम सत्य। भगवद्गीता में यहां पर पहली बार श्री कृष्ण को भगवान् कहकर संबोधित किया जाता है। पराशर मुनि जैसे वैदिक विद्वानों के अनुसार भगवान् वे हैं जो संपूर्ण ऐश्वर्य, वीर्य, यश, सौंदर्य, ज्ञान, व वैराग्य के स्वामी हैं।

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसः श्रियः ।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीङ्गणः ॥

भगवान् वे हैं जिनमें ऐश्वर्य, वीर्य, यश, सौंदर्य, ज्ञान, व वैराग्य के लक्षण संपूर्णता में पाए जाते हैं। (विष्णु पुराण ६.५.४७)

इसके अलावा, सोलहवें शताब्दी के वैष्णव तत्त्वज्ञ जीव गोस्वामी कहते हैं कि भगवान् हैं भजनीय गुण च अनन्त च नित्यः' - वे जो सर्व-पूजनीय गुणों के स्वामी हैं, और जिनका सर्वाकर्षणी स्वभाव ऐसा है कि वे हमारा स्नेह व श्रद्धाभाव अपनी ओर आकर्षित करते हैं।

आधुनिक समाज में भगवान् के अस्तित्व में होने न होने के विषय पर बहुत चर्चा होती है। भगवान् का अस्तित्व निश्चित करने से पहले यह परिभाषित करना आवश्यक है कि 'भगवान्' शब्द का अर्थ क्या है। तदनुसार, प्राचीन भारत के सत्यान्वेषी ऋषियों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि यदि भगवान् वास्तव में हैं तो वे समस्त संसार के स्वामी व अधिकारी होंगे, सर्वशक्तिमान होंगे, सबसे प्रसिद्ध होंगे, सबसे सुंदर होंगे, सर्वज्ञ होंगे, और साथ-साथ वे अनासक्त या त्यागी भी होंगे। सूक्ष्म विश्लेषण के पश्चात उन सत्यान्वेषी ऋषियों ने निश्चित किया है कि केवल श्री कृष्ण ही वस्तुता के परम स्रोत या परम सत्य हो सकते हैं, और दरसल वे ही हैं। इस विष्कर्ष परिणाम की अनेक संतों ने युगो-युगो से (१०,००० बीसी पूर्व से) पुष्टि की है और वैदिक शास्त्रों में, जैसे कि उपनिषद्, पुराण, रामायण, महाभारत, वेदान्त सूत्र, श्रीमद्भागवतम् और ब्रह्म-संहिता आदि शास्त्रों में इसकी व्यापक रूप से व्याख्या की गई है।

ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्द विग्रहः ।
अनादिरादिगोविन्दः सर्व कारण कारणम् ॥

कृष्ण परमेश्वर हैं। उनका रूप सत् चित् एवं आनन्द से बना है। वे समस्त अस्तित्व के स्रोत हैं। वे गौ और इन्द्रियों के स्वामी हैं। उनका कोई अन्य स्रोत नहीं है और वे स्वयं ही सभी कारणों के मूल कारण हैं। (ब्रह्म-संहिता ५.१)

एते चांश कलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम् ।
इन्द्रारि व्याकुलं लोकं मृडयन्ति युगे युगे ॥

भगवान् के विभिन्न अवतार या तो उनकी पूर्णविभूति के अंश हैं या उनकी पूर्णविभूति के अंशों के अंग हैं। परन्तु कृष्ण इन सभी अवतारों के मूलस्रोत हैं। जब अमंगलकारी शक्तियां भगवान् के भक्तों को व्याकुल करती हैं तब वे उनकी रक्षा हेतु प्रत्येक युग में प्रकट होते हैं। (श्रीमद्भागवतम् १.३.२८)

हरिरेव सदाराध्यम् सर्वदेवेश्वरेश्वरम् ।
इतरे ब्रह्म-रुद्राद्य नवजेयम् कदाचन ॥

संपूर्ण जगत के स्वामी के रूप में केवल श्री हरि (कृष्ण) ही आराध्य हैं। ब्रह्म, शिव और अन्य सभी देवी-देवताएं कभी भी इस नियम का उल्लंघन नहीं करते। (पद्म-पुराण)

यत्रावतीर्ण कृष्णारव्यम् परब्रह्मानराकृतिम् ।

जब परम पुरुष अपने मनुष्य सदृश रूप में अवतीर्ण होते हैं, वे परब्रह्म कृष्ण हैं। (विष्णु पुराण ४.११.२)

तस्मात् कृष्ण एव परो देवस्तं ध्यायेत् तं रसेत् तं भजेत् तं यजेत् ।

अतः कृष्ण ही परम पुरुष हैं। उनका ध्यान करें। उनका ही आनंद लें। उनकी आराधना करें व उन के लिए भोग चढ़ाएं। (गोपाल-तापनी उपनिषद् १.५४)

कृषि वाचकः शब्दो णश्च निर्वृति वाचकः ।
तयोरैक्यं परंब्रह्म कृष्ण इत्यभिदीयते ॥

‘कृषि’ शब्दांश कृष्ण के सर्वाकर्षी लक्षण को सूचित करता है और ‘ण’ उनके दिव्य आनंद को। जब ‘कृषि’ शब्दांश को ‘ण’ से जोड़ा जाता है, तब ‘कृष्ण’ शब्द बनता है जो परम सत्य को सूचित करता है।

रणभूमि में कुछ ही समय में वीरगती प्राप्त करने वालों के प्रति अर्जुन करुणामय हो गए हैं। वस्तुतः उनका दुःख इतना ज्यादा है कि वे अपने शत्रुओं का वध करने के बजाय स्वयं अपने प्राण देने के लिए तैयार हैं। किंतु अर्जुन एक कुलीन क्षत्रीय है और इसी कारण कृष्ण उन्हें अपने हृदय की दुर्बलता को त्याग करने की सलाह देते हैं। यदि कोई क्षत्रीय है तो शत्रु का सामना करना उसका कर्तव्य है ना की पीछे हटकर दुबक जाना। युद्ध करना अवश्य एक दुःखदायक परिस्थिति है, किंतु जब धर्म का अनुसरण करना होता है तब युद्ध अनिवार्य हो जाता है। प्राचीन काल में आक्रामकता घृणाजनक थी और समाज में एवं देशों के बीच वह बिलकुल ही वर्जित हुआ करता था। किंतु जब अतिक्रमण होता तब प्रतिकार या युद्ध स्वीकार्य था। महर्षी वसिष्ठ के अनुसार छः प्रकार

के अतिक्रामक होते हैं और मनु-संहित के अनुसार इनका सामना एक घातक प्रतिकार से होना चाहिए।

अग्निदो गरुडश्वैव शस्त्र-पाणिर्धनापहः ।
क्षेत्र-दारापहारी च षडेते ह्याततायिनः ॥

घर में आग लगानेवाला, विष घोलनेवाला, घातक शस्त्रों से हमला करनेवाला, राज्य की संपत्ति हड्डपनेवाला, आक्रमण कर राज्य पर कजा करनेवाला, और परिवार के सदस्यों का अपहरण करनेवाला - इन सभी को आक्रमणकारी समझा जा सकता है। (वसिष्ठ-स्मृति ३.१९)

आततायिनमायान्तम् हन्यादेवाविचारयन् ।
नाततायिवधेदोषो हन्तुर्भवति कश्चन ॥

बिना हिचकिचाहट के एक क्षत्रीय को अतिक्रामकों का वध करना चाहिए, क्योंकि उनकी हत्या से पाप नहीं होता है। (मनु-संहित ८.३५०)

ये सभी श्लोक सामाजिक सिद्धांत (अर्थ-शास्त्र) में दिए गए नियमों के अनुसार हैं। तथापि, धार्मिक सिद्धांत (धर्म-शास्त्र), जिसे अर्थ-शास्त्र से ऊँचा माना जाता है, वह कहता है कि कभी किसी प्राणी को क्षति नहीं पहुंचाना चाहिए (माहिंसयत् सर्वभूतानि) - तो फिर परिवार के सदस्यों या बुजुर्गों का क्या कहना? ।

अर्जुन की यही दुविधा थी। कृष्ण का कोमल-हृदयी भक्त होने के कारण, अर्जुन अपने परिजनों के विरुद्ध शास्त्र उठाने से विमुख हो गए थे, किंतु एक क्षत्रिय होने के कारण वे नियति का सामना करने के लिए मजबूर भी थे। इस दुविधा की दशा में अर्जुन ने कृष्ण से अपने सखा होने के नैमित्तिक संबंध को टाल कर उन्हें अपना गुरु मान लिया।

वैदिक ज्ञान के अनुसार, अनगिनत ग्रहो एवं समांतर ब्रह्माण्ड अस्तित्व में हैं जहां पर जीवन पाया जा सकता है। इनमें से कुछ ग्रहों व ब्रह्माण्डों में जीवनस्तर, पृथ्वी पर हमारे जीवनस्तर से उच्च हैं, तो कुछ में पृथ्वी से निम्न। यदि कोई अपने जीवनकाल में अपने निर्धारित कर्तव्यों का पालन करता है तो तदनुसार वह उच्च लोकों में जन्म की ओर प्रस्थान करता है। लेकिन यदि वह अपने कर्तव्यों का पालन नहीं करता है तो अगले जन्म में केवल कलंक एवं निचले लोकों में निम्नगमन उसकी प्रतीक्षा करते हैं।

श्रीमद्भगवद्गीता

अर्जुन के द्वारा अपने निर्धारित वैदिक कर्तव्यों का नहीं पालन करने के कारण कृष्ण 'अनार्य' शब्द का प्रयोग करते हैं जिसका अर्थ है आर्य नहीं होना। आर्यन कौन हैं और वे कहाँ से आए हैं, इस बात पर सदियों से बहस चलती आ रही है। इस तरह की अधिकांश विवेचनाएं शारीरिक उपाधियों पर निर्धारित होती हैं और एक जाति के लोगों को दूसरे से श्रेष्ठतर सिद्ध करने के लिए की जाती हैं। परन्तु भगवद्गीता में, श्री कृष्ण के वचनानुसार, आर्यन वे हैं जो वैदिक निर्देशों के अनुसार अपने धर्मों का पालन करते हैं। अतएव यह समझा जा सकता है कि आर्यन शब्द कोई विशेष जाति के लोगों से नहीं बल्कि एक जीवन जीने की कला से, एक जीवनशैली से संबंधित है।

परमात्मा और आत्मा के सनातन अस्तित्व का ज्ञान ही समस्त वैदिक प्रज्ञता की कुंजी है। इस अध्याय में, अर्जुन के लिए कृष्ण के उपदेशों का यही केंद्रीय विषय है।

सञ्जय उवाच ।
एवमुत्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परन्तप ।
न योत्स्य इति गोविन्दमुत्त्वा तूष्णीं बभूव ह ॥ २-९ ॥

संजय ने कहा - श्री कृष्ण से इस प्रकार कहकर, सजग, शत्रु-विजयी अर्जुन ने घोषित किया, “हे कृष्ण, हे गोविन्द, मैं युद्ध नहीं करूँगा!”, और फिर मौन हो गए।

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः ॥ २-१० ॥

हे भरत वंशज, वहाँ उन दोनों सेनाओं के मध्य, श्री कृष्ण (हृषीकेश) मुस्कराते हुए शोक में डूबे अर्जुन से इस प्रकार बोले।

श्रीभगवानुवाच ।
अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे ।
गतासूनगतातूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥ २-११ ॥

भगवान् श्री कृष्ण ने कहा - तुम एक बुद्धिमान की तरह बात कर रहे हो, परन्तु तुम उस बात पर शोक कर रहे हो जिस पर शोक करना बेकार है। बुद्धिमान ना तो जीवित व्यक्तियों पर न मृतक लोगों पर शोक करते हैं।

नत्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः ।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥ २-१२ ॥

ऐसा कभी नहीं था जब तुम नहीं थे, या मैं नहीं था या यहां उपस्थित सारे योद्धा नहीं थे। और ना ही भविष्य में कभी हम नहीं होंगे।

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा ।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्षीरस्तत्र न मुह्यति ॥ २-१३ ॥

जिस प्रकार आत्मा, बाल्यावस्था, युवाकाल, और बुढ़ापे के दैहिक रूपान्तरण से गुजरती है, उसी प्रकार मृत्यु के समय वह एक शरीर को छोड़कर दूसरा शरीर धारण कर लेती है।

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः ।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥ २-१४ ॥

हे कुन्तिपुत्र, इन्द्रियों और उनके अनुरूपी विषय-वस्तुओं की अंतःक्रिया ही ठंडक, गर्मी, सुख और दुःख जैसी संवेदनाएं उत्पन्न करती हैं। ये संवेदनाएं अस्थायी होने के कारण आती-जाती रहती हैं। अतएव, हे भारत, तुम इनका सहन करो।

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्भम् ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥ २-१५ ॥

हे आर्य, एक संयमी जो सुख और दुःख दोनों में संतुलित रहता है, और अशांत नहीं होता, वह अवश्य मोक्ष की प्राप्ती के योग्य है।

~ अनुवृत्ति ~

अर्जुन शरीर की मृत्यु या उसके जाने से मोह ग्रसित थे, किंतु श्री कृष्ण अर्जुन के इस शोक से सहमत नहीं थे और वे अर्जुन को स्मरण दिलाते हैं कि सभी जीव नित्य हैं। कृष्ण कहते हैं कि स्वयं उनका, अर्जुन का और रणभूमि पर उपस्थित सभी योद्धाओं के व्यक्तित्व सदैव कायम रहते हैं - वे अनादि काल से अस्तित्व में हैं और भविष्य में भी वे निरंतर अस्तित्व में रहेंगे।

अर्जुन वेद-शास्त्र में निपुण हैं और वे कृष्ण के मित्र भी हैं, किंतु इस विद्वत्तापूर्ण संभाषण के भावी श्रोताओं के लिए अर्जुन केवल इस प्रवचन की प्रेरणा हेतु भ्रांति व व्याकुलता को प्रकट कर रहे हैं। अर्जुन को सिद्धपुरुष माना जाता है और इसलिए वे अविद्या और भ्रम से बिलकुल ही परे हैं।

हालाँकि आत्मा नित्य होती है, किंतु भौतिक नश्वर शरीर में यह लक्षण नहीं होता। एक शरीर, जन्म, बाल्यावस्था, किशोरावस्था, बुढ़ापा, रोग और मृत्यु से हो कर गुजरता है। मृत्यु के समय, आत्मा अपने कर्म के अनुसार एक दूसरे शरीर में स्थानांतरण कर इस भौतिक आवर्तन को फिर से प्रारंभ करती है। जो स्थूल शरीर और आत्मा के बीच का अंतर जानते हैं, वे कभी भी निरंतर बदलते शरीर से भ्रमित नहीं होते।

कहा जाता है कि देहबद्ध चेतना के पांच स्तर होते हैं जिन्हे पंच-कोश कहा जाता है - अन्नमय (आहार द्वारा अपने अस्तित्व को तृप्त करना, जैसा कि बच्चों में देखा जाता है), प्राणमय (शरीर के पालन-पोषण की आवश्यकता की जागरूकता होना), मनोमय (मानसिक अभिज्ञता का स्तर), विज्ञानमय (उच्चतर ज्ञान के माध्यम से चेतना का विकास, इस समझ के साथ कि आप यह नश्वर शरीर नहीं बल्कि एक आत्मा हो), एवं आनन्दमय (स्वयं को कृष्ण का अवयवभूत अंश समझकर उनसे अपना नाता बढ़ाने की साधना करना)। इनमें से पहले तीन स्तर - अन्नमय, प्राणमय, और मनोमय, सांसारिक भोग के जंजाल में फंसे सभी जीवों से जुड़े हैं। विज्ञानमय और आनन्दमय स्तर उनसे जुड़े हैं जिन्होने आत्म-साक्षात्कार (विज्ञान) एवं परिपूर्णता (आनन्द) प्राप्त कर ली हैं।

जो सुस एवं आलसी होते हैं, वे मात्र दैहिक पहचान में डूबे रहते हैं, वे कभी भी अपने संवेदी धारणा से परे की अलौकिक अनुभूति नहीं पा सकते। जिन्हें आत्मा का ज्ञान ही नहीं होता, वे गर्भी और ठंडक, सुख और दुःख, प्रसन्नता और पीड़ा, जन्म और मृत्यु जैसी जीवन के अनुभूतियों का वे अनुभव करते हैं। परन्तु जो लोग जीवन की दैहिक धारणा से विमुक्त होते हैं, वे चेतना की जगत में सजग होते हैं और इस संसार में प्रतिकूल या विरोधात्मक परिस्थितियों के बावजूद वे सदैव अपना संतुलित जीवन बनाए रखते हैं। वे सदैव शांत चित्त होते

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥ २-१६ ॥

वह जो अस्थायी है उसका शाश्वत अस्तित्व नहीं होता। वह जो शाश्वत है उसका विनाश या विकार नहीं होता। सत्य-द्रष्टाओं ने इन दोनों की वैधानिक स्थितियों को साकार किया है।

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम् ।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुर्मर्हति ॥२-१७॥

यह निश्चित रूप से जानो कि संपूर्ण शरीर में व्याप्त आत्मा अविनाशी होती है। इस अविनाशी आत्मा का कोई भी नाश नहीं कर सकता।

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः ।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ॥२-१८॥

देहबद्ध आत्मा शाश्वत, अविनाशी, और अपरिमित होता है। केवल शरीर नश्वर होता है। इसलिए हे अर्जुन, युद्ध करो!

~ अनुवृत्ति ~

यहां श्री कृष्ण दोहरा रहे हैं कि चेतना (आत्मा) जड़ पदार्थ से श्रेष्ठ होती है। डार्विन के समय से ही नहीं बल्कि प्राचीन भारत के कुछ तत्त्वज्ञानीयों, जैसे की चार्वाक, से लेकर वर्तमान के समय तक, कुछ लोग सोचते हैं कि जीवन जड़ पदार्थ से उत्पन्न होता है। महा विस्फोटवाद (बिग बैंग थियोरी) और अन्य समकालीन वैज्ञानिक विचार भी इस मत का समर्थन करते हैं। परन्तु इस सोच की समस्या यह है कि ऐसा कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है जो यह समझा सके, या इस बात का प्रदर्शन कर सके कि बेजान जड़ पदार्थ से जीवन के आसार कैसे विकसित हुए। जिस प्रकार डार्विन के अनुयायीगण विकासवाद को समझते हैं, उस विचार का काफ़ी हृद तक जीवाशम के प्रमाणों द्वारा खंडन हो चुका है क्योंकि उनमें कोई भी ‘संक्रातिक प्रजातियाँ’ पाई नहीं गई हैं जो आदिम प्रजातियों से लेकर विकसित प्रजातियों तक, जीव-जंतुओं के क्रमिक विकास को निश्चित रूप से व्यक्त कर सके। और तो और, कोई भी योग्य सैद्धांतिक रूपरेखा उपलब्ध नहीं है जो जड़ पदार्थ की उत्पत्ति को स्पष्ट कर सके।

ऐसे बहुत से सिद्धांत, नए और प्राचीन, जो जड़ पदार्थ को जीवन का स्रोत बताते हैं, वे मूलतः अनेक रूप से दोषपूर्ण हैं। दूसरी ओर, अति सूक्ष्म जीव-जंतुओं जैसे कि फ्लाजेल्लम (Flagellum) से लेकर बृहतकाय प्राणियों तक, जैसे कि

हाथी और व्हेलों के पर्यावेक्षण से यह बात स्वतःसिद्ध है कि जीवन का स्रोत केवल जीवन ही हो सकता है। अतएव, जीवन के विषय पर वैदिक दृष्टिकोण यह है कि सभी जीव एक प्रज्ञ जीवन स्रोत से उत्पन्न होते हैं और वह स्रोत हैं श्री कृष्ण।

ब्रह्माण्ड और जीवन की सृष्टि के कारण को खोज निकालने की वैज्ञानिक दिलचस्पी अवश्य प्रशंसनीय है। परन्तु जब सारे उचित एवं इमानदार अन्वेषण हमें इस निष्कर्ष पर पहुंचाते हैं कि जीवन/चेतना कोई जड़ पदार्थ का उपोत्पाद नहीं है, और चूंकि एक 'प्रज्ञ योजना' (Intelligent Design) का नक्शा हर जगह एवं सभी वस्तुओं में दिखाई देता है, तो समझदारी से यह मान लेना चाहिए कि महत्प्रज्ञा (परम चेतना) ही जड़ पदार्थ, जगत् और सभी जीवित वस्तुओं का मूल कारण है।

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हृतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥ २-१९ ॥

जो यह समझते हैं कि यह (आत्मा) हत्या कर सकता है, या इसकी हत्या की जा सकती है, दोनों ही वे अज्ञानी हैं - क्योंकि आत्मा ना तो हत्या कर सकता है न उसकी मृत्यु होती है।

न जायते म्रियते वा कदाचिन् नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥ २-२० ॥

आत्मा ना तो कभी जन्म लेता है न मरता है। उसका न कभी सृजन हुआ था न कभी सृजन होगा। वह अजात, नित्य, शाश्वत व कालातीत है - भौतिक शरीर के नष्ट हो जाने पर भी आत्मा का नाश नहीं होता।

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम् ।
कथं स पुरुषः पार्थं कं घातयति हन्ति कम् ॥ २-२१ ॥

हे पार्थ, जब आत्मा नित्य, अजात, व अविनाशी है तो कोई कैसे और किसका वध कर सकता है?

~ अनुवृत्ति ~

प्रायः यह माना जाता है कि ईश्वर ने, या किसी उच्च ज्ञान के स्रोत ने इस संसार में जीवन को रचा है, किंतु यहाँ श्री कृष्ण कहते हैं की आत्मा का वास्तव में कभी सृजन नहीं होता। कृष्ण के नित्य अंश के रूप में, परम चेतना के अंश के रूप में आत्मा नित्य है। परम सत्य की वैदिक धारणा में, कृष्ण निरंतर अपने शक्तियों के साथ सदैव अस्तित्व में रहते हैं। इस मापदण्ड के अनुसार चेतना का कभी सृजन नहीं होता; वह तो सदैव परम सत्य के अंश के रूप में अपने अस्तित्व को बनाए रखता है।

चेतना (आत्मा) के लक्षण इस प्रकार वर्णित हैं - अजन्मा, नित्य, अविनाशी और कालातीत - वह वस्तु जिसका शरीर के नष्ट हो जाने पर भी नाश नहीं होता। काल के प्रभाव को भौतिक शरीर के विकास, पोषण, उपोत्पाद, वृद्धावस्था, सिकुड़ना, और मृत्यु जैसी दृष्टिगत घटनाओं से समझा जा सकता है। किंतु चेतना (आत्मा) जड़ पदार्थ के प्रभाव से परे होता है, वह कालातीत भी होता है, अतएव कभी भी उसकी आयुर्वृद्धी नहीं होती, उसका जरण, सिकुड़ना, या उसकी कभी मृत्यु भी नहीं होता।

कुछ धार्मिक परंपराओं में कभी कभी सृष्टा (जगत के रचनाकार) की कल्पना, आकाश में बैठे एक बूढ़े-बाबा के रूप में की जाती है। स्वाभाविक तौर पर उन्हें वृद्ध माना जाता है क्योंकि आखिर बहुत समय पूर्व इस समस्त जगत का जन्म उन्हीं के द्वारा हुआ था, और इसलिए उम्र में वे सबसे बुजुर्ग हैं। किंतु यहाँ भी भगवद्गीता की अवधारणा विशेष रूप से भिन्न है। चेतना (आत्मा) सदैव नवीन रहता है और चेतना (आत्मा) का स्रोत - परम चैतन्य श्री कृष्ण, सदैव स्थिर-यौवन वाले होते हैं, कोइ वृद्धायुश वाले नहीं।

सांसारिक मामलों में संलग्न रहनेवाले और भगवद्गीता की प्रज्ञता को अनदेखा करनेवाले, जीवन की शारीरिक धारणा से उपर उठने और जड़ पदार्थ और चेतना (आत्मा) के बीच का अंतर पहचानने की साधना को सदैव कठिन समझेंगे।

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा न्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥ २-२२ ॥

जिस तरह हम पुराने वस्त्रों को छोड़कर नए वस्त्र धारण करते हैं उसी तरह आत्मा भी पुराने शरीर का त्याग कर नया शरीर धारण करता है।

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥ २-२३ ॥

आत्मा को कोई अस्त्र काट नहीं सकता, अग्नि जला नहीं सकता, पानी भिगो नहीं सकती, और हवा सुखा नहीं सकती।

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्षेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥ २-२४ ॥

आत्मा अविनाशी है, अदाह्य है (जलाया नहीं जा सकता), अघुलनशील है, और उसे मुरझाया नहीं जा सकता। वह नित्य है, सर्वव्यापी है, अपरिवर्ती है, अचल और सनातन है।

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुर्मर्हसि ॥ २-२५ ॥

कहते हैं कि वह अव्यक्त है, अचिन्त्य है, और अविकारी है। इस तरह यदि तुम आत्मा के लक्षणों को समझो तो तुम्हारा शोक जताना उचित नहीं।

~ अनुवृत्ति ~

उपर्युक्त श्लोकों में आत्मा के दिव्य स्वभाव को स्पष्ट रूप से बताया गया है। उसे कोई काट नहीं सकता, पानी या हवा उसे जला या स्पर्श नहीं कर सकता। दूसरी ओर एक भौतिक शरीर इन सबके अधीन होता है। चेतना (आत्मा) को नित्य कहा जाता है क्योंकि उसे नष्ट करना असंभव है। वह सर्वव्यापी है क्योंकि वह संपूर्ण शरीर को सजीव बनाता है और शारीरिक अंगों को संवेदनशीलता प्रदान करता है। वह अपरिवर्ती है क्योंकि वह वास्तव में जैसा है (शुद्ध चेतना) निरंतर वैसा ही रहता है, कुछ और नहीं बन जाता। वह अचल है क्योंकि वह सदैव अपने संवैधानिक स्थान पर स्थिर रहता है। वह सनातन है क्योंकि वह सबसे प्राचीन है। वह अव्यक्त है क्योंकि वह इन्द्रियों से अगोचर है। वह अचिन्त्य है क्योंकि वह मानसिक कल्पना-शक्ति से परे है, और वह अविकारी है क्योंकि वह परम सत्य का अनन्य अंश।

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम् ।
तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि ॥ २-२६ ॥

हे महाबाहु, यदि तुम यह भी मान लो कि आत्मा नित्य जन्म और मृत्यु के अधीन है, तब भी शोक का कोई कारण नहीं है।

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्बुवं जन्म मृतस्य च ।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥ २-२७ ॥

क्योंकि जो जन्म लेता है उसकी मृत्यु निश्चित है। जिसकी मृत्यु हो गई है, उसका जन्म निश्चित है। अतएव जिसे टाल नहीं सकते उस पर तुम्हें शोक करना उचित नहीं।

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥ २-२८ ॥

हे भारत, जन्म से पहले सभी जीव अव्यक्त होते हैं, जन्म और मृत्यु के बीच वे व्यक्त होते हैं, और मृत्यु के पश्चात फिर अव्यक्त हो जाते हैं। तो इसमें शोक का कारण कहां है?

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनम् आश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः ।
आश्चर्यवच्छैनमन्यः शृणोति श्रुत्वाप्येन वेद न चैव कश्चित् ॥ २-२९ ॥

कुछ लोग आत्मा को आश्चर्यजनक मानते हैं, कुछ आश्चर्यजनक कहकर उसका वर्णन करते हैं, अन्य यह सुनते हैं कि वह आश्चर्यजनक है - और कुछ, सुनकर भी कुछ नहीं जानते।

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत ।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ॥ २-३० ॥

यह आत्मा जो हर एक जीव-जंतुओं के शरीर में वास करती है, वह नित्य और अवध्य होती है, हे भारत। इसलिए तुम्हें किसी पर भी शोक नहीं करना चाहिए।

~ अनुवृत्ति ~

आत्मा को समझना कठिन है, क्योंकि वह दिव्य एवं अलौकिक होती है, और उसे किसी भी भौतिक इन्द्रियों से देखा नहीं जा सकता, इस संसार के सबसे

श्रीमद्भगवद्गीता

शक्तिशाली माइक्रोस्कोप द्वारा भी नहीं। उसका आकार आणविक होता है और केवल परिप्रज्ञता से उसे परखा जा सकता है। प्रत्येक आणविक आत्मा पांच तरह के सूक्ष्म प्राण-वायु (प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान) के मध्य स्थित होती है। वह हृदय में स्थित होता है और पूरे शरीर में अपना प्रभाव रखता है। आत्मा की सूक्ष्मता और शरीर में उसके स्थान का कुछ अनुमान देने के लिए श्वेताश्वतरोपनिषद् और मुण्डकोपनिषद् में हमें यह जानकारी दी गई है -

बालाग्र शत भागस्य शतधा कल्पितस्य च ।
भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते ॥

एक बाल के उपरी सतह को जब सौ भागों में बाँटा जाए, और इन प्रत्येक भागों को फिर सौ बार बाँटा जाए, तब प्रत्येक परिणामी भाग का माप एक आत्मा के माप के बराबर होगा। (श्वेताश्वतरोपनिषद् ५.९)

एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन्प्राणः पञ्चधा संविवेश ।
प्राणौश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां यस्मिन्विशुद्धे विभवत्येष आत्मा ॥

आत्मा आकार में आणविक होता है और केवल विशुद्ध बुद्धिशक्ति से समझा जा सकता है। यह आणविक आत्मा पांच तरह की वायुओं में तैर रही होती है, हृदय-स्थित होती है, और देहधारी जीवों के शरीर में वह अपना प्रभाव सर्वत्र फैलाती है। जब इन पांच प्रकार की भौतिक वायुओं के दूषण की मुक्ति से आत्मा की शुद्धी होती है, तब उसका अलौकिक प्रभाव प्रकट होता है। (मुण्डकोपनिषद् ३.१.९)

देहधारी जीवों के लिए जन्म और मृत्यु का सांसारिक-चक्र एक प्राकृतिक घटना समझा जाता है। हालाँकि इस विचार को भाग्यवादी धारणा भी समझा जाता है, जन्म और मृत्यु दोनों ही देहधारी जीव के लिए अवांछनीय अनुभूतियाँ हैं। जीवन के अनुभव के पश्चात कोई भी स्वस्थ-चित्त व्यक्ति मरना नहीं चाहेगा - सभी जितना लंबा हो सके उतना जीना चाहते हैं। इस उद्देश्य से, आज-कल करामाती औषधियों के उत्पादक हमें चिरायु बनाने का भरोसा देते हैं, हालाँकि वर्तमान में ऐसी कोई भी जीवनप्रद औषधी उपलब्ध नहीं है। सभी को मरना तो है किंतु मरने से पहले, ये करामाती औषधियाँ और डाक्टरों की फीस हमारी पारिवारिक भाग्य-संपत्ति का दिवाला अवश्य निकाल देंगी। कुछ भी हो, मृत्यु अवश्य एक अस्वाभाविक अनुभूति है। यह तथ्य कि सभी चिरकाल जीने की

अध्याय २ – सांख्य योग

आशा रखते हैं, यह इस बात का संकेत देती है कि जन्म और मृत्यु के परे, जीवन की एक विशुद्ध स्थिति भी मौजूद है। अवश्य वह मौजूद है, और इस अध्याय के दौरान श्री कृष्ण इस विषय को और विस्तृत रूप से बताएंगे।

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुर्मर्हसि ।
धाद्वि युद्धाच्छेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते ॥ २-३१ ॥

और तो और, तुम्हारे स्वधर्म के अनुसार, तुम्हें द्विजकर्ता नहीं चाहिए, क्योंकि एक क्षत्रिय के लिए धर्म की रक्षा हेतु युद्ध करने से बेहतर अन्य कोई कर्म नहीं है।

यदृच्छ्या चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम् ।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थं लभन्ते युद्धमीदशम् ॥ २-३२ ॥

हे पार्थ, केवल सबसे भाग्यशाली क्षत्रियों को ही ऐसे युद्ध में भाग लेने का सौभाग्य प्राप्त होता है, जो स्वतः तुम्हारे सामने स्वर्ग-द्वार बनकर आया है।

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं सङ्ग्रामं न करिष्यसि ।
ततः स्वधर्मं कीर्ति च हित्वा पापमवाप्यसि ॥ २-३३ ॥

किंतु यदि तुम इस धर्मयुद्ध में भाग नहीं लेते हो, तो तुम्हारा धर्म भ्रष्ट हो जाएगा, यश तुम्हें त्याग देगा, और तुम पाप-ग्रस्त हो जाओगे।

अकीर्ति चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम् ।
सम्भावितस्य चाकीर्तिमरणादतिरिच्यते ॥ २-३४ ॥

आने वाले हर समय में लोग तुम्हारी अकीर्ति को दोहराते रहेंगे, और जो महान होते हैं, उनके लिए अपयश मृत्यु से भी बदतर होता है।

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः ।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ॥ २-३५ ॥

महारथी योद्धा यह सोचेंगे कि भय के कारण तुम युद्ध से भाग गए। तुम्हारा अत्यंत आदर करनेवाले तुम्हे अपनी नजरो से गिरा देंगे।

अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिताः ।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ॥ २-३६ ॥

तुम्हारे शत्रु अपमानजनक वचनों से तुम्हारी वीरता का तिरस्कार करेंगे। इससे बढ़कर दुखदाई स्थिति और क्या हो सकती है?

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ॥ २-३७ ॥

हे कौन्तेय, यदि तुम मारे जाते हो तो तुम्हे स्वर्ग प्राप्त होगा, और यदि तुम विजयी होते हो तो तुम इस पृथ्वी पर राज करोगे। अतः, अपनी सफलता पर विश्वास रखो - उठो और युद्ध करो!

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥ २-३८ ॥

सुख हो या दुःख, लाभ हो या नुकसान, विजय हो या पराजय, सदैव धीरज रखो - युद्ध करो, और इस तरह तुम पाप से बच जाओगे।

~ अनुवृत्ति ~

सामाजिक व्यवस्था के अनुसार अर्जुन एक क्षत्रिय थे और वे शूरवीरों के वर्ग के सदस्य थे। दरसल, धर्म को कायम रखना एवं आक्रांताओं से राज्य की सुरक्षा करना अर्जुन के विधिपूर्ण कर्तव्य थे। विधि और सामाजिक नियमों के अनुसार, अर्जुन और उनके भाई, शासन के न्यायपूर्ण वारिस थे, फिर भी उनके चाचा धृतराष्ट्र ने सिंहासन को हड्डप लिया था। अर्जुन, उनकी पत्नी द्रौपदी, उनकी माता कुन्ती और उनके भाई युधिष्ठिर, भीम, सहदेव, और नकुल, सभी को कपट से राज्य से निर्वासित कर दिया गया था।

श्री कृष्ण अर्जुन का स्वभाव जानते हैं, इसलिए वे अर्जुन की क्षत्रियता को उकसा रहे हैं ताकि वे उठकर युद्ध करें। कृष्ण अर्जुन को स्मरण दिलाते हैं कि यदि वे अपने कर्तव्यों की उपेक्षा करते हैं तो उनके भाग्य में केवल अपमान उनकी प्रतीक्षा करेगी। उनके शत्रु बुरा-भला कहकर उन्हें कायर घोषित कर देंगे। कर्तव्यों की इस तरह अवहेलना करना यश की ओर नहीं बल्कि अपयश की ओर ले जाती है।

परिस्थिति कैसी भी हो, युद्ध की ललकार सुनकर एक क्षत्रिय को कभी भी अपने कर्तव्यों का परित्याग नहीं करना चाहिए। कृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि यदि वे

युद्ध में राज्य की रक्षा करते हुए अपने प्राण उत्सर्ग करता है तो ऐसी वीरता का कार्य उन्हें अगले जन्म में एक ऊँचे पद पर स्थापित करेगी। अथवा, कृष्ण कहते हैं, यदि वे युद्ध में विजयी होते हैं तो उन्हें अपना राज्य पुनः प्राप्त होगा और वे यहां, पृथ्वी पर इसका भोग करेंगे। हर हालत में, कृष्ण दृढ़तापूर्वक अर्जुन को अपने कर्तव्य का परित्याग न करने के लिए प्रोत्साहित करते हैं।

एषा तेऽभिहिता साञ्छे बुद्धिंगे त्विमां शृणु।
बुद्ध्या युक्तो यथा पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ॥ २-३९ ॥

हे अर्जुन, हे पार्थ, मैंने तुम्हें आत्मा (व्यक्तिगत चेतना) का ज्ञान प्रदान किया है। अब यह सुनो कि इस पर अमल कैसे करें, जिसके सहारे तुम कर्म के बन्धन से मुक्त हो पाओगे।

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥ २-४० ॥

इस धर्म का अमल करने में ना कोई नुकसान है और न ही इसके प्रतिफल में कोई कमी है। इस धर्म के अन्तर्गत थोड़ा सा परिश्रम भी एक जीव को महाभय से बचाता है।

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन ।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्ध्योऽव्यवसायिनाम् ॥ २-४१ ॥

हे कुरु वंशज, आध्यात्मिक बुद्धिमत्ता केंद्रित व अनन्य होती है, जब कि प्रापंचिक सुख की कामना करनेवालों की बुद्धि बहुत सी शाखाओं में विभाजित होती है।

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः ।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ॥ २-४२ ॥

हे पार्थ, जो अल्पबुद्धि होते हैं वे वेदों के गलत अर्थ निरूपण से यह दावा करते हैं कि सृष्टि का कोई ईश्वरीय सिद्धांत ही नहीं होता। अतः वे केवल उन वाक्यों का गुणगान करते हैं जो उनके इन्द्रियों को सुखदायक लगे।

कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम् ।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगति प्रति ॥ २-४३ ॥

चूंकि उनके हृदय स्वार्थी मनोकामनाओं से भरे होते हैं, और चूंकि स्वर्ग की प्राप्ति ही उनके जीवन का लक्ष्य होता है, वे ऊँचा जन्म, धन और सत्ता प्रदान करनेवाले कर्मकाण्ड के अनेक अनुष्ठानों की संस्तुति करते हैं जो उन्हें भोग व ऐश्वर्य की ओर ले चलते हैं।

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहतचेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥ २-४४ ॥

इस तरह के इरादों को लेकर, इन्द्रिय तृप्ति और सांसारिक भोग का चिंतन करनेवाले ये लोग, कभी भी परम सत्य की धारणा के लिए आवश्यक मानसिक संकल्प जुटा नहीं पाते।

~ अनुवृत्ति ~

मनुष्य जाति में अपने शरीर को त्याग कर पशु या अन्य निम्न जातियों में जन्म पाने के भय को ही उपर्युक्त श्लोक में कथित सबसे बड़ा भय (महाभय) कहा गया है। कुछ लोग समझते हैं कि मनुष्य जाति की एक विशेष प्रकार की चेतना या आत्मा होती है, और पशु आदि जातियों की अन्य प्रकार की आत्मा होती है। परन्तु वास्तव में मनुष्य जाति और पशु जाति की आत्माओं में कोई अंतर नहीं होता। सभी जीव अपने कर्मों के अनुसार कई निम्न प्रजातियों में देहांतरण कर, अंत में मनुष्य जाति को प्राप्त करते हैं।

मनुष्य जीवन हमें आत्म-साक्षात्कार या आध्यात्मिक विद्या एवं आध्यात्मिक जागृति की साधना करने का अवसर प्रदान करती है। सदैव ऐसा नहीं होता कि आत्म-साक्षात्कार की साधना करनेवाले एक ही बार में या एक ही जीवनकाल में सफलता प्राप्त कर लें। परन्तु श्री कृष्ण हमें आश्वासन देते हैं कि आत्म-साक्षात्कार के पथ पर थोड़ा सा परिश्रम भी हमें सबसे घोर भय, यानि कि निम्न प्रजातियों में जन्म लेने के भय से बचाता है।

आत्म-साक्षात्कार की परिपूर्णता को योग प्रणाली में समाधि, अर्थात् हमारी चेतना की पूर्ण रूप से परम सत्य में तन्मयता को कहते हैं। एक भक्ति-योग का अनुयायी यदि दृढ़ निश्चय के साथ श्री कृष्ण के उपदेशों का अनुसरण करता है तो उसे ऐसी आत्म-साक्षात्कार की अवस्था प्राप्त होती है। ऐसी स्थिति केवल मनुष्य जीवन की प्राप्ति के महान वरदान से ही संभव हो सकती है।

परन्तु, यदि कोई मनुष्य, आत्म-साक्षात्कार के अवसर की उपेक्षा करता है, तो वह अवश्य पशुजाति या पशुओं से भी निचली प्रजातियों में जन्म का जोखिम उठाता है। प्रायः इस बात पर चर्चा तो होती है कि कभी कभी कुत्ते और बिल्लियों के जीवन भी कई मनुष्यों के जीवन से अधिक आरामदेह होते हैं, और यह बात खासकर पश्चिमी देशों के कुत्ते और बिल्लियों के मामले में तो बिलकुल सही है। किंतु ऐसा कोई आश्वासन नहीं दिया जाता है कि मनुष्य जीवन को खोकर हम किसी धनवान अमरीकी परिवार में अच्छे खाते-पीते पालतु कुत्ते या बिल्ली बन जाएंगे। हम ऐसे पशु भी बन सकते हैं जिसे जंगली जानवर जिन्दा चबा जाएं या समुंदर के परभक्षि चीरकर निगल जाएं। निस्संदेह, कुछ कहे बिना ही हम यह मान सकते हैं कि इस तरह का जीवन और मृत्यु अत्यंत ही दुःखदायक होता है।

अतः पशु-जीवन में पाए जानेवाले अनावश्यक पीड़ाओं से बचने के लिए एक मनुष्य को भगवद्गीता में निरूपित आत्म-साक्षात्कार के पथ पर दृढ़ निश्चय और लगन के साथ आगे बढ़ना चाहिए।

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्वैगुण्यो भवार्जुन ।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥ २-४५ ॥

वेद त्रिगुणों पर आधारित विषयों की चर्चा करते हैं। हे अर्जुन, विशुद्ध आध्यात्मिक चेतना में स्थित रहकर, लाभ और रख-रखाव के उद्यम से मुक्त होकर, द्वन्द्वमुक्त बनो। इस तरह तुम इन त्रिगुणों से उपर उठ पाओगे।

यावानर्थं उदपाने सर्वतः सम्मुतोदके ।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥ २-४६ ॥

एक विशाल सरोवर उन सभी उद्देश्यों की पूर्ती कर सकता है जो एक छोटा तालाब करता है। उसी तरह, एक परम सत्य का जानकार, वेदों में निहित सभी उद्देश्यों की पूर्ती कर सकता है।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥ २-४७ ॥

श्रीमद्भगवद्गीता

तुम्हारे कर्मों के करने पर तुम्हारा अधिकार है, किंतु उन कर्मों के फलों पर तुम्हारा कोई अधिकार नहीं। अपने कर्मों के फलों से कभी प्रेरित न हो, और न अपने निर्धारित कर्मों को न करने की सहजप्रवृत्ति से लगाव रखो।

**योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय ।
सिद्ध्यासिद्धोः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥ २-४८ ॥**

हे धनंजय, योग में सुदृढ़ रहो, मोह-रहित होकर अपने कर्मों को करो, एवं सफलता हो या विफलता, दोनों में धीरज रखो। इस तरह के संतुलन को ही योग कहा जाता है।

**दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय ।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥ २-४९ ॥**

हे धनंजय, फलाकांक्षी कर्म (कार्य), बुद्धिमत्ता के योग से नीचा होता है। अतः बुद्धिमत्ता का आश्रय लो। फल की आशा में कर्म करनेवाले कृपण होते हैं।

**बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥ २-५० ॥**

बुद्धिमान, पुण्य एवं पाप कर्म, दोनों से परहेज रखते हैं। अतः योग में नियुक्त रहो क्योंकि योग ही सबसे उत्तम कार्य है।

**कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥ २-५१ ॥**

बुद्धिमान अपने कर्म के फलों का त्याग कर, भौतिक जन्म और मृत्यु के बंधन से विमुक्त हो जाते हैं। इस तरह वे वह पद प्राप्त कर लेते हैं जो समस्त दुःखों के अतीत है।

**यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥ २-५२ ॥**

एक बार यदि तुम्हारी बुद्धी, माया के इस घोर जंगल को पार कर जाए, तब सभी सुने व अनसुने विषयों से तुम विरक्त हो जाओगे।

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्यसि ॥२-५३॥

जब तुम्हारा मन वेदों की मिथ्या प्रस्तुतिकरण के प्रभाव से मुक्त हो जाएगा, तब तुम योग में सिद्धी प्राप्त कर सकोगे।

~ अनुवृत्ति ~

परात्मरता में स्थित होने का अर्थ है त्रिगुणों से, यानि की तमोगुण, रजोगुण, और सत्त्वगुण, से मुक्त होना। त्रिगुणों से उपर उठने की साधना को ही योग कहा जाता है। भौतिक जगत में सभी त्रिगुणों के अधीन होते हैं, और केवल एक सच्चा योगी ही इनसे उपर उठ पाता है।

हमारे कार्यों को तीन प्रकारों में वर्गीकृत किया जाता है - वेद द्वारा निर्धारित कार्य (कर्म), निषिद्ध कार्य (विक्रम), और दिव्य कार्य (अक्रम)। कर्म का अर्थ है वे कार्य जिन्हें करने से पुण्य प्राप्त होता है और कभी कभी वे कर्ता को उंचे लोकों में पदोन्नती दिलाते हैं या एक उच्च वैभवपूर्ण जीवन प्रदान करते हैं। जो वेदों के व्यादेशों के विरुद्ध किए जाते हैं, वे विकर्म हैं, और जो कर्ता और अन्य जीव-जन्तुओं के लिए पीड़ा का कारण बनते हैं। जिन कर्मों की न अच्छी न बुरी प्रतिक्रिया होती है, उन्हें अकर्म कहा जाता है।

एक बुद्धिमान व्यक्ति जो योग के विज्ञान को समझता है वह सदैव अकर्म करने का प्रयास करता है। ऐसे योगियों को भक्ति-योगी कहा जाता है जो आसानी से दिव्य अलौकिक भाव में स्वयं को स्थापित कर सकते हैं। अन्य योग प्रणालियां जैसे कि अष्टांग-योग, राज-योग, कुण्डलिनी-योग, हठ-योग और क्रिया-योग अभ्यर्थी को अलौकिक स्थान पर तो पहुंचा सकते हैं, किंतु इनके पथ, विशेषकर इस आधुनिक युग के लोगों के लिए, बहुत कठिन होते हैं।

श्री कृष्ण योगेश्वर हैं - योग के सर्वश्रेष्ठ गुरु, और हालांकि भगवद्गीता में अन्य योग प्रणालियों पर चर्चा तो की गई है, कृष्ण अन्त में भक्ति-योग की ही संस्तुती करते हैं। भक्ति-योगी सदैव योगेश्वर श्री कृष्ण की तृप्ति हेतु भक्ति कार्य में लगे रहते हैं। इस तरह, एक भक्ति योगी सदैव अपने इन्द्रियों को पूरी तरह से अपने नियंत्रण में रखता है। इन्द्रियों को संपूर्ण वश में किए बिना कोई भी ध्यान या आध्यात्मिक साधना में ठीक से संलग्न नहीं रह सकता। अतएव, एक भक्ति-योगी ही सर्वोच्च योगी है क्योंकि वह सर्वोच्च योग पद्धति में संलग्न है।

श्रीमद्भगवद्गीता

योग के आठ गूढ़ सिद्धियाँ हैं, जिन्हें अष्ट-सिद्धी कहते हैं। ये सिद्धियाँ हैं - अनिमा-सिद्धी (आकार में बहुत छोटा बन जाना), लघिमा-सिद्धी (हवा से भी हल्का बन जाना), प्राप्ति-सिद्धी (कहीं से भी किसी भी वस्तु को झपट लेना, जैसे कि न्यू योर्क से अपने हाथों को बढ़ाकर भारत में उगते हुए पेड़ पर से आम तोड़ना), महिमा-सिद्धी (अत्यंत वजनदार हो जाना), ईशित्व-सिद्धी (अनोखे वस्तुओं की रचना करना या अपनी इच्छानुसार किसी भी वस्तु का नाश करना), वशित्व-सिद्धी (भौतिक पदार्थों का नियंत्रण करना), प्राकाम्य-सिद्धी (अपनी सभी कामनाओं को पूरी करने की क्षमता), और कामावशायिता-सिद्धी (मनचाहा रूप धारण करने की क्षमता)। योगेश्वर श्री कृष्ण में ये सभी अष्ट-सिद्धियाँ अपनी संपूर्णता में पाई जाती हैं।

कई बार योगी यह दावा करते हैं कि उन्होंने एक या अधिक सिद्धियाँ प्राप्त कर ली है। ऐसी बातें प्राचीन समय में अपेक्षाकृत आम हुआ करती थीं। परन्तु आधुनिक समय में इस तरह का दावा प्रायः छलपूर्ण या मात्र अनुयायी इकट्ठा करने के लिए रचा एक ढोंग है। योग की लोकप्रियता में बढ़ोतरी के साथ-साथ अष्ट-सिद्धी का झूठा दावा करना भी एक लाभदायक व्यापार बन गया है।

एक योगी का उच्चतम ध्येय अष्ट-सिद्धियों की प्राप्ती नहीं बल्कि भक्ति-योग में समाधी की स्थिती प्राप्त करना होता है, क्योंकि ऐसी उपलब्धी उन्हें जन्म और मृत्यु के चक्र से मुक्ति दिलाती है।

अर्जुन उवाच ।
स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव ।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत ब्रजेत किम् ॥ २-५४ ॥

अर्जुन ने कहा, हे केशव, दिव्य ज्ञान में उत्कृष्टता से स्थित और शुद्ध आध्यात्मिक चेतना में पूर्ण रूप से लीन व्यक्ति के क्या लक्षण होते हैं? उनकी बोली कैसी होती है? उनका उठना-बैठना, चलना-फिरना कैसा होता है?

श्रीभगवानुवाच ।
प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थं मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥ २-५५ ॥

अध्याय २ – सांख्य योग

भगवान् श्री कृष्ण बोले, हे पार्थ, जब एक जीव अपने मन में प्रवेश करनेवाले सभी कामनाओं का परित्याग कर भीतर से आत्म-संतुष्ट बनता है, तब यह कहा जा सकता है कि वह दिव्य-ज्ञान में स्थित है।

दुःखेष्वनुद्विग्मनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥ २-५६ ॥

वह व्यक्ति जिसका मन दुःख में भी शांत रहे, जिसे सुख की अभिलाषा न हो, जो सांसारिक बंधनों से, भय से और क्रोध से मुक्त हो, वह स्थिर-बुद्धि का मुनी कहलाता है।

यः सर्वत्रानभिस्तेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ २-१७ ॥

जो जगत के सभी वस्तुओं से असंलग्न रहे और जो शुभ और अशुभ की प्राप्ति पर हर्षित या क्रोधित न हो, उसकी प्रज्ञा योग में प्रतिष्ठित कहलाती है।

यदा संहरते चायं कूर्मोऽज्ञानीव सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ २-५८ ॥

जो अपने इन्द्रियों को उसी तरह विषय-वस्तुओं से निर्लिप्त कर सके, जैसे कि एक कछुआ अपने अंगों को अंदर खींचता है, उस व्यक्ति की प्रज्ञा योग में प्रतिष्ठित कहलाती है।

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥ २-५९ ॥

हालांकि एक देहबद्ध जीव विषय वस्तुओं का त्याग तो कर लेता है, फिर भी उनके भोग का स्वाद शेष रह जाता है। परन्तु, परम सत्य के दर्शन से इस दोष का निवारण भी हो जाता है।

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः ।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥ -६० ॥

फिर भी, हे कुन्तिपुत्र, एक विवेकी व्यक्ति के मन को भी अशांत इन्द्रियां बलपूर्वक हर लेती हैं।

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः ।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥२-६१॥

इन्द्रियों को नियन्त्रण में रखकर, एक संयमी व्यक्ति को मुझ पर अपना ध्यान लगाना चाहिए। इस प्रकार वह दिव्य ज्ञान में दृढ़ स्थित हो जाता है।

~ अनुवृत्ति ~

जैसा कि पहले बताया गया है, बहुत सी विभिन्न योग प्रणालियाँ हैं। श्री कृष्ण ने स्पष्ट किया है कि अपने इन्द्रियों को इन्द्रीय-तृप्ति के लिए, शब्द, स्पर्श, रुची, सुगंध, और दृष्टि के विषय वस्तुओं से निर्लिप्त करने से, और अपने मन को उन (श्री कृष्ण) पर केन्द्रित करने से, व्यक्ति दिव्य ज्ञान व समाधि में दृढ़ स्थित हो जाता है।

आध्यात्मिक जीवन में प्रगति के लिए, बिना किसी सकारात्मक कर्म के, केवल इन्द्रियों को नियंत्रित करने से कोई लाभ नहीं होता। अनेक योगियों ने इन्द्रियों को पूर्ण रूप से निष्क्रिय बनाने का प्रयास किया है, किंतु विषय वस्तुओं के स्वाद या उन पर मोह के रह जाने से बहुतों का इस प्रयास में पतन हुआ है। जब की कृष्ण के उपदेशों का अनुसरण करनेवाले भक्ति-योगी की इन्द्रियां नियंत्रित रहती हैं, क्योंकि वे चौबीसों घंटे कृष्ण की सेवा में कार्यरत रहते हैं। इसके अलावा, इन्द्रिय तृप्ति की रुची क्रमशः शुष्क होकर लुप्त हो जाती है और एक भक्ति योगी आध्यात्मिक पथ पर निर्बाध प्रगति करने लगता है।

जो अपने इन्द्रियों का नियन्त्रण न कर सके वह अपने मन को एकाग्र नहीं कर सकता है। और तो और, सांसारिक क्रियाकलाप से कभी भी इन्द्रीय संतुष्ट नहीं होती। अल्प समय के लिए वे अवश्य तृप्त रहते हैं, किंतु तत्पश्चात् पुनः वे और अधिक लोलुपता से जाग उठते हैं। शारीरिक इन्द्रियों के दास कभी भी स्वयं के स्वामी नहीं बन सकते।

शुद्ध आध्यात्मिक चेतना या समाधी में पूर्ण रूप से निमग्न रहने का अर्थ है परम पुरुष श्री कृष्ण के प्रति निरंतर जागरूक रहना। मन एवं इन्द्रियों के कृष्ण में निमग्नता को ही कृष्ण भावनामृत कहते हैं।

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।
सङ्गात्सञ्जायते कामः कामात्कोऽधोऽभिजायते ॥२-६२॥

विषय वस्तुओं पर ध्यान करने से व्यक्ति उनसे बंध जाता है। बंधन से कामना उत्पन्न होती है, और कामना से क्रोध प्रकट होता है।

क्रोधाद्वति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥ २-६३ ॥

क्रोध से विमोह उत्पन्न होता है। विमोह से स्मृति-भ्रम होता है। स्मृति-भ्रम से बुद्धि का नाश होता है, और बुद्धि के नाश से व्यक्ति का सर्वनाश हो जाता है।

रागद्वेषविमुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्वरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥ २-६४ ॥

परन्तु, जो व्यक्ति विषय वस्तुओं के मध्य में होते हुए भी अपने मन एवं इन्द्रियों को वश में रख सके, और आसक्ती एवं मोह से मुक्त रह सके, वह दिव्य अनुग्रह प्राप्त करता है।

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥ २-६५ ॥

दिव्य अनुग्रह की प्राप्ति से सारे दुःख दूर हो जाते हैं। जो व्यक्ति प्रशांत मन पा लेता है, उसमें निस्संदेह दिव्य प्रज्ञता प्रकट हो जाती है।

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना ।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ॥ २-६६ ॥

जिसमें आत्म-संयम नहीं होता वह ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता। बिना ज्ञान के समाधि प्राप्त नहीं होती। बिना समाधि के शांति प्राप्त नहीं होती, और बिना शांति के कैसे कोई प्रसन्न हो सकता है?

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते ।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाभसि ॥ २-६७ ॥

जिस किसी भी इन्द्रिय से ग्रस्त अस्थिर मन हो जाए, वह इन्द्रिय बुद्धि को उसी तरह हर ले जाती है जैसे कि समन्दर में एक प्रचंड वायु एक नाव को बहा ले जाता है।

श्रीमद्भगवद्गीता

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ २-६८ ॥

इसलिए, हे महाबाहु अर्जुन, जिसके इन्द्रिय विषय वस्तुओं से पूर्ण निर्लिप्त होते हैं, वह दिव्य प्रज्ञता में दृढ़ स्थित होता है।

~ अनुवृत्ति ~

दुर्भाग्यवश, बहुत से ऐसे धोकेबाज योगी हैं जो धन और शिष्य इकट्ठा करने के लिए तथा-कथित 'आशीर्वाद' देते हैं, यह कहकर कि हिंसा-रहित आहार, यौन-रोकथाम, या नशा परिवर्जन आदि जैसे किसी भी इन्द्रिय-निय्रह की साधना की कोई आवश्यकता ही नहीं। ऐसे धोकेबाज अपने अनुयायिओं को धोका देकर उन्हें यह सोचने पर भटकाते हैं कि वे स्वयं भगवान् हैं और यह कि वे इन्द्रिय-वांछित किसी भी वस्तु का भोग कर सकते हैं।

परन्तु यहां पर एक निष्पक्ष चेतावनी दी गई है। ऐसी अनियंत्रित इन्द्रिय सक्रियता दिव्य अनुग्रह या दिव्य ज्ञान नहीं प्रदान करता, बल्कि यह व्यक्ति को पहले बंधन, फिर वर्धित काम वासना, फिर क्रोध, फिर विमोह, स्मृति-भ्रम, बुद्धि-नाश और अंत में सर्वनाश की ओर ले जाती है।

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥ २-६९ ॥

जो अन्य लोगों के लिए रात है, वह एक आत्म-संयमित संत के लिए दिवस होता है, और जो अन्य लोगों के लिए दिवस है, वह अन्तर्दर्शनात्मक संत के लिए रात होती है।

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वैस शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥ २-७० ॥

ऐसा संत जो काम के निरंतर वेग का सामना करने में अचल रहे, औउन्हें तृप्त करने का प्रयास न करे, वह शांति प्राप्त करता है। नदियों के प्रवेश करने पर भी जिस तरह समंदर शांत रहता है, वह संत भी उसी तरह अप्रभावित रहता है।

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः ।
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति ॥ २-७१ ॥

जो व्यक्ति सारे भोग-कामनाओं का परित्याग करे, और जो स्वत्वात्मकता की भावना एवं इूठे अहंकार से मुक्त रहे, केवल वही शांति प्राप्त कर सकता है।

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुद्धति ।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥ २-७२ ॥

हे पार्थ, परम सत्य की साक्षात्कार के पश्चात् व्यक्ति कभी भ्रमित नहीं होता। यदि कोई मृत्यु के समय ऐसी दशा में स्थित रहे, उसे ब्रह्म-निर्वाण या शुद्ध चेतना का निवास प्राप्त होता है, और उसके सारे कष्ट समाप्त हो जाते हैं।

~ अनुवृत्ति ~

भगवान् श्री कृष्ण के आदेशों का अनुसरण करके जो परम सिद्धि प्राप्त होती है, यहां उसका वर्णन किया गया है। जो अपना जीवन श्री कृष्ण के उपदेशानुसार व्यतीत करता है उसे मृत्यु के समय ब्रह्म-निर्वाण, वैकुण्ठ लोक प्राप्त होता है, जहां वह सारे कष्टों से मुक्त हो जाता है।

तत्त्वदर्शियों के ज्ञान के अनुसार, परम सत्य की साक्षात्कार के तीन स्तर होते हैं - ब्रह्मन, परमात्मा एवं भगवान्।

वदन्ति तत् तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम् ।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते ॥

परम सत्य के विज्ञाता इस अद्वय द्रव्य को ब्रह्मन, परमात्मा, या भगवान् के रूप में समझते हैं। (श्रीमद्भागवतम् १.२.११)

ब्रह्मन का अर्थ है परम सत्य की निराकार ज्योति या प्रभा। 'ब्रह्मन' शब्द वैदिक ग्रन्थों में सभी जगह पाया जाता है, और भक्ति-योग के विद्वानों के अनुसार, यह शब्द अंततः विष्णु या कृष्ण को ही दर्शाता है।

बौद्ध दर्शनशास्त्री निर्वाण को सांसारिक जीवन का अंत और शून्यता में प्रवेश मानते हैं, किंतु भगवद्-गीता का ज्ञान बिलकुल भिन्न है। वैदिक शिक्षा में कहीं भी शून्यता की अवधारणा नहीं है। सब कुछ परम सत्य की शक्तियां हैं और इसके बाहर कोई अस्तित्व या अनस्तित्व का समाधेय नहीं है।

भक्ति-योग के मुख्य संतो में से विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ब्रह्म-निर्वाण को मुक्ति कहते हैं। उनके शिष्य बलदेव विद्याभूषण ब्रह्म-निर्वाण को परमात्मा समझते हैं, जो मुक्ति के साक्षात् रूप, स्वयं विष्णु हैं। रामानुजाचार्य ब्रह्मन को आत्मा, तथा निर्वाण को परमानन्द समझते हैं। मध्वाचार्य ब्रह्म-निर्वाण को भौतिक रूप रहित विष्णु/कृष्ण कहते हैं। किसी भी तरह से, कृष्ण-भक्त कभी भी निराकार ब्रह्मन में या शून्यता में मुक्ति को स्वीकार नहीं करते, क्योंकि वे केवल कृष्ण की सेवा चाहते हैं, और वैसे भी वे पहले से ही विमुक्त होते हैं।

सभी जीवों के हृदय में प्रतिष्ठित परम सत्य की अनुभूति को ही परमात्मा कहते हैं - जगत् के पालनकर्ता जो प्रत्येक भौतिक पदार्थ के कण के भीतर व उनके मध्य में स्थित होते हैं।

परम सत्य के व्यक्तित्व-सहित स्वरूप की अनुभूति को ही भगवान् कहते हैं, और यही आत्मानुभूति की चरम सीमा मानी जाती है, क्योंकि इस दशा में हम संपूर्णता में परम सत्य को श्री कृष्ण के साकार रूप में करते हैं, जो स्वयं सभी शक्तियों के मूलस्रोत हैं। कृष्ण के निवास को वैकुण्ठ या गोलोक वृन्दावन कहते हैं।

इसके अतिरिक्त, श्लोक ७१ उस मिथ्या-अहम को सूचित करता है जो त्रिगुणों से प्रभावित होकर चेतना से जुड़ जाता है। मिथ्या-अहम, वास्तविक-अहम के अस्तित्व को प्रमाणित करता है - वह वास्तविक-अहम जो एक जीव की निर्मल प्रज्ञा होती है। स्वयं को केवल एक स्थूल शरीर समझ लेना या स्वयं को इन्द्रियों का भोगी मान लेना, इसी मिथ्या-अहम का कारण व प्रभाव है। मिथ्या-अहम हमें ज्ञानोदय की ओर नहीं, बल्की जन्म और मृत्यु की पुनरावर्ती सांसारिक चक्र की ओर ले जाता है। मिथ्या-अहम अंधकार की परछाई जैसा होता है जो निर्मल ज्ञान को ढक देता है। शुद्ध-अहम और शुद्ध ज्ञान अभेद हैं। स्वयं को परम सत्य का अवयवभूत अंश और कृष्ण का नित्य सेवक जान लेना ही वास्तविक-अहम कहलाता है।

अध्याय २ – सांख्य योग

ॐ तत्सदिति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां
वैयासिक्यां भीष्मपर्वाणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु
ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
सांख्ययोगो नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥

ॐ तत् सत् - अतः व्यास विरचित शतसहस्र श्लोकों की श्री महाभारत ग्रन्थ के भीष्म-पर्व में पाए जाने वाले आध्यात्मिक ज्ञान का योग-शास्त्र - श्रीमद् भगवद् गीतोपनिषद् में श्री कृष्ण और अर्जुन के संवाद से लिए गए सांख्य योग नामक द्वितीय अध्याय की यहां पर समाप्ति होती है।

